2

मेरे संग की औरतें

मृदुला गर्ग

मेरी एक नानी थीं। ज़ाहिर है। पर मैंने उन्हें कभी देखा नहीं। मेरी माँ की शादी होने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई थी। शायद नानी से कहानी न सुन पाने के कारण बाद में, हम तीन बहिनों को खुद कहानियाँ कहनी पड़ीं। नानी से कहानी भले न सुनी हो, नानी की कहानी ज़रूर सुनी और बहुत बाद में जाकर उसका असली मर्म समझ में आया। पहले इतना ही जाना कि मेरी नानी, पारंपरिक, अनपढ़, परदानशीं[1] औरत थीं, जिनके पति शादी के तुरंत बाद उन्हें छोड़कर बैरिस्ट्री पढ़ने विलायत चले गए थे। कैंब्रिज विश्वविद्यालय से डिग्री लेकर जब वे लौटे और विलायती रीति-रिवाज के संग ज़िंदगी बसर करने लगे तो, नानी के अपने रहन-सहन पर, उसका कोई असर नहीं पड़ा, न उन्होंने अपनी किसी इच्छा-आकांक्षा या पसंद-नापसंद का इज़हार पति पर कभी किया।

1. परदा करने वाली स्त्री

पर जब कम-उम्र में नानी ने खुद को मौत के करीब पाया तो, पंद्रह वर्षीय इकलौती बेटी 'मेरी माँ' की शादी की फ़िक्र ने इतना डराया कि वे एकदम मुँहज़ोर[1] हो उठीं। नाना से उन्होंने कहा कि वे परदे का लिहाज़ छोड़कर उनके दोस्त स्वतंत्रता-सेनानी प्यारेलाल शर्मा से मिलना चाहती हैं। सब दंग-हैरान रह गए। जिस परदानशीं औरत ने पराए मर्द से क्या, खुद अपने मर्द से मुँह खोलकर बात नहीं की थी, आखिरी वक्त में अजनबी से क्या कहना चाह सकती है? पर नाना ने वक्त की कमी और मौके की नज़ाकत की लाज रखी! सवाल-जवाब में वक्त बरबाद करने के बजाए फ़ौरन जाकर दोस्त को लिवा लाए और बीबी के हुज़ूर में पेश कर दिया।

अब जो नानी ने कहा, वह और भी हैरतअंगेज़ था। उन्होंने कहा, "वचन दीजिए कि मेरी लड़की के लिए वर आप तय करेंगे। मेरे पति तो साहब हैं और मैं नहीं चाहती मेरी बेटी की शादी, साहबों के फ़रमाबरदार[2] से हो। आप अपनी तरह आज़ादी का सिपाही ढूँढ़कर उसकी शादी करवा दीजिएगा।" कौन कह सकता था कि अपनी आज़ादी से पूरी तरह बेखबर उस औरत के मन में देश की आज़ादी के लिए ऐसा जुनून होगा। बाद में मेरी समझ में आया कि दरअसल वे निजी जीवन में भी काफ़ी आज़ाद-खयाल रही होंगी। ठीक है, उन्होंने नाना की ज़िंदगी में कोई दखल नहीं दिया, न उसमें साझेदारी की, पर अपनी ज़िंदगी को अपने ढंग से जीती ज़रूर रहीं। पारंपरिक, घरेलू, उबाऊ और खामोश ज़िंदगी जीने में, आज के हिसाब से, क्रांतिकारी चाहे कुछ न रहा हो दूसरे की तरह जीने के लिए मजबूर न होने में असली आज़ादी कुछ ज़्यादा ही थी।

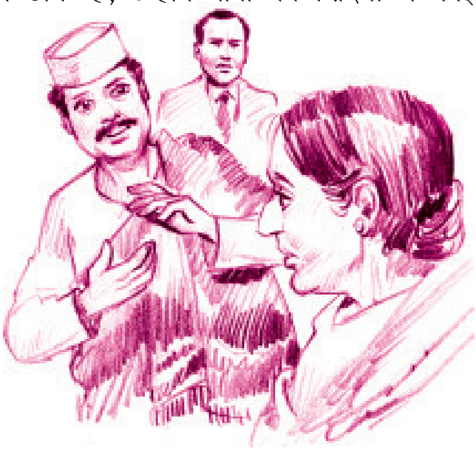

1. बहुत बोलने वाली 2. आज्ञाकारी

खैर, इस तरह मेरी माँ की शादी ऐसे पढ़े-लिखे होनहार लड़के से हुई, जिसे आज़ादी के आंदोलन में हिस्सा लेने के अपराध में आई.सी.एस. के इम्तिहान में बैठने से रोक दिया गया था और जिसकी जेब में पुश्तैनी पैसा-धेला एक नहीं था। माँ, बेचारी, अपनी माँ और गांधी जी के सिद्धांतों के चक्कर में सादा जीवन जीने और ऊँचे खयाल रखने पर मजबूर हुईं। हाल उनका यह था कि खादी की साड़ी उन्हें इतनी भारी लगती थी कि कमर चनका खा जाती। रात-रात भर जागकर वे उसे पहनने का अभ्यास करतीं, जिससे दिन में शर्मिंदगी न उठानी पड़े। वे कुछ ऐसी नाज़ुक थीं कि उन्हें देखकर उनकी सास यानी मेरी दादी ने कहा था, "हमारी बहू तो ऐसी है कि धोई, पोंछी और छींके पर टाँग दी।" गनीमत यही थी कि किसी ने उन्हें छींके पर से उतारने की पेशकश नहीं की।

क्यों नहीं की, उसकी दो वजहें थीं। पहली यही कि हिंदुस्तान के तमाम वाशिंदों की तरह, उनके ससुरालवाले भी, साहबों से खासे अभिभूत थे और मेरे नाना पक्के साहब माने जाते थे। बस जात से वे हिंदुस्तानी थे, बाकी चेहरे-मोहरे, रंग-ढंग, पढ़ाई-लिखाई, सबमें अंग्रेज़ थे। मज़े की बात यह थी कि हमारे देश में आज़ादी की जंग लड़ने वाले ही अंग्रेज़ों के सबसे बड़े प्रशंसक थे, गांधी-नेहरू हों या मेरे पिता जी के घरवाले। भले लड़का, आज़ादी की लड़ाई लड़ते, जेब खाली और शोहरत सिर करता रहे, दबदबा उसके साहबी ससुर का ही था। एक आन-बान-शान वाले साहब ने उनके सिरफिरे लड़के को अपनी नाज़ुक जान लड़की सौंपी, उससे रोमांचक क्या कोई परिकथा होती! नानी की सनकभरी आखिरी ख्वाहिश और नाना की रज़ामंदी, वे रोमांचक उपकथाएँ थीं, जो कहानी के तिलिस्म को और गाढ़ा बना चुकी थीं। दूसरी वजह माँ की अपनी शख्सियत थी। उनमें खूबसूरती, नज़ाकत, गैर-दुनियादारी के साथ ईमानदारी और निष्पक्षता कुछ इस तरह घुली-मिली थी कि वे परीजात से कम जादुई नहीं मालूम पड़ती थीं। उनसे ठोस काम करवाने की कोई सोच भी नहीं सकता था। हाँ, हर ठोस और हवाई काम के लिए उनकी ज़बानी राय ज़रूर माँगी जाती थी और पत्थर की लकीर की तरह निभाई भी जाती थी।

मैंने अपनी दादी को कई बार कहते सुना था, "हम हाथी पे हल ना जुतवाया करते, हम पे बैल हैं।" बचपन में ही मुझे इस जुमले का भावार्थ समझ में आ गया था, जब देखा था कि, हम बच्चों की ममतालू परवरिश के मामले में माँ के सिवा घर के सभी प्राणी मुस्तैद[1] रहते थे। दादी और उनकी जिठानियाँ ही नहीं, खुद-मर्दजात, पिता जी भी।

पर ठोस काम न करने का यह मतलब नहीं था कि माँ को आज़ादी का जुनून कम था। वह भरपूर था और अपने तरीके से वे उसे भरपूर निभाती रही थीं। ज़ाहिर है कि जब जुनून आज़ादी का हो तो, उसे निभाना भी आज़ादी से चाहिए। जिस-तिस से पूछकर, उसके तरीके से नहीं, खुद अपने तरीके से।

हमने अपनी माँ को कभी भारतीय माँ जैसा नहीं पाया। न उन्होंने कभी हमें लाड़ किया, न हमारे लिए खाना पकाया और न अच्छी पत्नी-बहू होने की सीख दी। कुछ अपनी बीमारी के चलते भी, वे घरबार नहीं सँभाल पाती थीं पर उसमें ज़्यादा हाथ उनकी अरुचि का था। उनका ज़्यादा वक्त किताबें पढ़ने में बीतता था, बाकी वक्त साहित्य-चर्चा में या संगीत सुनने में और वे ये सब बिस्तर पर लेटे-लेटे किया करती थीं। फिर भी, जैसा मैंने पहले कहा था, हमारे परंपरागत दादा-दादी या उनकी ससुराल के अन्य सदस्य उन्हें न नाम धरते थे, न उनसे आम औरत की तरह होने की अपेक्षा रखते थे। उनमें सबकी इतनी श्रद्धा क्यों थी, जबकि वह पत्नी, माँ और बहू के किसी प्रचारित कर्तव्य का पालन नहीं करती थीं? साहबी खानदान के रोब के अलावा मेरी समझ में दो कारण आए हैं-(1) वे कभी झूठ नहीं बोलती थीं और (2) वे एक की गोपनीय बात को दूसरे पर ज़ाहिर नहीं होने देती थीं।

पहले के कारण उन्हें घरवालों का आदर मिला हुआ था; दूसरे के कारण बाहरवालों की दोस्ती। दोस्त वे हमारी भी थीं, माँ की भूमिका हमारे पिता बखूबी निभा देते थे। मुझे याद है, बचपन में भी हमारे घर में किसी की चिट्ठी आने पर कोई उससे यह नहीं पूछता था कि उसमें क्या लिखा है। भले वह एक बहन की

1. तैयार, चुस्त, तत्पर

दूसरी के नाम क्यों न हो। और माँ यह जानने को बेहाल हों कि बीमारी से वह उबरी या नहीं। छोटे से घर में छह बच्चों के साथ, सास-ससुर आदि के रहते हुए भी, हर व्यक्ति को अपना निजत्व बनाए रखने की छूट थी। इसी निजत्व बनाए रखने की छूट का फ़ायदा उठाकर, हम तीन बहनें और छोटा भाई लेखन के हवाले हो गए।

लीक से खिसके, अपने पूर्वजों में, माँ और नानी ही रही होतीं तो गनीमत रहती, पर अपनी एक परदादी भी थीं, जिन्हें कतार से बाहर चलने का शौक था। उन्होंने व्रत ले रखा था कि अगर खुदा के फ़ज़ल[1] से, उनके पास कभी दो से ज़्यादा धोतियाँ हो जाएँगी तो वे तीसरी दान कर देंगी। जैन समाज में अपरिग्रह[2] की सनक बिरादरी बाहर हरकत नहीं मानी जाती, इसलिए वहाँ तक तो ठीक था। पर उनका असली जलवा तब देखने को मिला, जब मेरी माँ पहली बार गर्भवती हुईं। मेरी परदादी ने मंदिर में जाकर मन्नत माँगी कि उनकी पतोहू का पहला बच्चा लड़की हो। यह गैर-रवायती मन्नत माँगकर ही उन्हें चैन नहीं पड़ा। उसे भगवान और अपने बीच पोशीदा रखने के बजाए सरेआम उसका ऐलान कर दिया। लोगों के मुँह खुले-के-खुले रह गए। उनके फ़ितूर की कोई वाजिब वजह ढूँढ़े न मिली। यह भी नहीं कह सकते थे कि खानदान में पुश्तों से कन्या पैदा नहीं हुई थी, इसलिए माँ जी बेचारी कन्यादान के पुण्य के अभाव को पूरा करने के चक्कर में थीं। क्योंकि पिता जी की ही नहीं, दादा जी की भी बहनें मौजूद थीं। हाँ, पहला बच्चा हर बहू का बेटा होता रहा था। खैर, माँ जी ने अपनी तरफ़ से कोई सफ़ाई नहीं दी, बल्कि बदस्तूर[3] मंदिर जाकर मन्नत दुहराती रहीं। पूरा नकुड़ गाँव जानता था कि माँ जी का भगवान के साथ सीधा-सीधा तार जुड़ा हुआ है। बेतार का तार। इधर वह तार खींचती, उधर टन से तथास्तु बजता। मेरी दादी तो पहली मर्तबा में ही तैयार हो गई थीं कि गोद में खेलेगी, तो पोती। पर माँ जी की आरज़ू किस कदर रंग लाएगी, उसका उन्हें भी गुमान न रहा होगा।

1. अनुग्रह, दया 2. संग्रह न करना, किसी से कुछ ग्रहण न करना 3. नियम से

लड़की की गैर-वाजिब जुस्तजू सुन, भगवान कुछ ऐसी अफ़रा-तफ़री में आ गए कि एक न दो, पूरी पाँच कन्याएँ, एक-के-बाद-एक धरती पर उतार दीं। भगवान को क्या कहें, माँ जी के सामने तो नामी चोर भी अफ़रा-तफ़री में आ जाते थे। माँ जी और नामी चोर का किस्सा होश सँभालने के बाद मैंने कई बार सुना था, चोर के दीदार की खुशनसीबी भी हाथ आई थी।

हुआ यूँ था कि किसी शादी के सिलसिले में नकुड़ की हवेली के तमाम मर्द बारात में दूसरे गाँव गए हुए थे। औरतें सज-धज कर रतजगा मना रही थीं। नाच-गाने और ढोलक की थाप के शोर में नामी चोर कब सेंध लगाकर हवेली में घुसा, किसी को खबर न हुई। पर चोर था बदकिस्मत, जिस कमरे में घुसा, उसमें माँ जी सोई हुई थीं। औरतों के शोर से बचने को, वे अपना कमरा छोड़ दूसरे में जा सोई थीं। चोर बेचारा, तमाम जुगराफ़िया दिमाग में बिठलाकर उतरा था, उसे क्या पता था कि इतनी बड़ी-बूढ़ी पुरखिन जगह बदल लेगी। खैर, बुढ़ापे की नींद ठहरी, चोर के दबे पाँवों की आहट से ही खुल गई।

"कौन?" माँ जी ने इतमीनान से पूछा।

"जी, मैं", चोर ने युगों से चला आ रहा, पारंपरिक, असंगत जवाब दिया।

"पानी पिला", माँ जी ने कहा।

"जी मैं...?" चोर झिझककर रह गया।

तब तक माँ जी बिस्तर के बराबर में टटोलकर देख चुकी थीं, लोटा खाली था। "ऐसा कर", उन्होंने कहा, "यह लोटा ले और कुएँ से पानी भर ला। पर देख, कपड़ा कसकर बाँधे रखियो और तरीके से छानियो।"

चोर घबरा गया, अँधेरे में इन्होंने कैसे जाना कि उसके मुँह पर कपड़ा बँधा है और कमर में भाँग। भगवान से उनका तार जुड़े होने की खबर उसे थी। पर बुढ़िया भाँग भी छानती होगी, एकदम यकीन न हुआ। इसी से कुछ हैरान-परेशान हो उठा।

"जल्दी कर भाई", तभी माँ जी ने कहा, "बड़ी प्यास लगी है।"

"पर मैं तो चोर हूँ", मारे घबराहट और धर्मसंकट के चोर सच कह गया।

"हुआ करे", माँ जी ने कहा, "प्यासे को पानी तो पिला। पर देख, मेरा धरम न बिगाड़ियो, लोटे के मुँह से कपड़ा न हटाइयो, हाथ रगड़कर धो लीजो और पानी कपड़े से छानकर भरियो।"

"आप चोर के हाथ का पी लोगी?"

"कहा न, रगड़कर धो लीजो, सब नाच-गाने में लगे हैं, तेरे और भगवान के सिवा कौन धरा है, जो पिलाएगा।"

भगवान वहीं-कहीं उसके बराबर में धरे हैं, सुनकर चोर कुछ ऐसा अकबकाया[1] कि लोटा उठाकर चल दिया। पूरी एहतियात के साथ पानी भरकर लौटा तो, पहरेदार ने धर-दबोचा। कुँए पर देख लिया गया था।

तब माँ जी ने लोटे का आधा पानी खुद पीकर, बाकी चोर को पिला दिया और कहा, "एक लोटे से पानी पीकर हम माँ-बेटे हुए। अब बेटा, चाहे तो तू चोरी कर, चाहे खेती।"

बेटा बेचारा किस लायक रह गया होगा। सो रोमांचक धंधा छोड़ खेती से लगा। सालों-साल लगा रहा। जब मैंने उसे देखा तो बड़ा भलामानुस बूढ़ा लगा मुझे, डरा-डरा, हैरान-सा।

अब खानदानी विरासत कहिए या जीवाणुओं का प्रकोप, उन दो सनकी बुढ़ियों के बीच मैं अच्छी फँसी! एक तरफ़, माँ जी के चलते, अपने लड़की होने पर कोई हीन भावना मन में नहीं उपजी। दूसरी तरफ़, नानी के चलते, देश की आज़ादी को लेकर नाहक रोमानी ही रही।

1. घबराया

15 अगस्त 1947 को, जब देश को आज़ादी मिली या कहना चाहिए, जब आज़ादी पाने का जश्न मनाया गया तो दुर्योग से मैं बीमार थी। उन दिनों, टाइफ़ाइड खासा जानलेवा रोग माना जाता था। इसलिए मेरे तमाम रोने-धोने के बावजूद डॉक्टर ने मुझे इंडिया गेट जाकर, जश्न में शिरकत करने की इजाज़त नहीं दी। चूँकि डॉक्टर अपने नाना के परम मित्र, उनसे ज़्यादा नाना थे इसलिए हमारे पिता जी, जो बात-बात पर सत्ताधारियों से लड़ते-भिड़ते फिरते थे, चुप्पी साध गए। मैं बदस्तूर रोती-कलपती रही, क्या कोई बच्चा इकलौती गुड़िया के टूट जाने पर रोया होगा! मेरी उम्र तब नौ बरस की थी। इतनी छोटी नहीं कि गुड़िया से बहलती और इतनी बड़ी नहीं कि डॉक्टरी तर्क समझती। तंग आकर पिता जी मुझे 'ब्रदर्स कारामजोव'[1] उपन्यास पकड़ा गए। किताबें पढ़ने का मुझे मिराक[2] था। सो, जब कुछ देर बाद मैंने देखा कि पिता जी को छोड़कर, घर के बाकी सब प्राणी पलायन कर चुके थे और पिता जी दूसरे कमरे में बैठे अपनी किताब पढ़ रहे थे तो, रोना-धोना छोड़कर मैंने भी किताब खोल ली। एक बार शुरू कर लेने पर, उसने मुझे इतनी मोहलत[3] नहीं दी कि दोबारा रोना शुरू करूँ या कोई और काम पकड़ूँ। उस वक्त 'ब्रदर्स कारामजोव' मुझे देने में क्या तुक थी, तब मेरी समझ में नहीं आया। किताब कितनी समझ में आई, वह अब तक नहीं जानती, क्योंकि उसके बाद इतनी बार पढ़ी कि सारे पाठ आपस में गड्डु-मड्डु हो गए। कितना पहली बार में पल्ले पड़ा, कितना बाद में, कहना मुश्किल है। पर इतना विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि उसका एक अध्याय, जो बच्चों पर होने वाले अनाचार-अत्याचार पर था, मुझे पहली बार में ही लगभग कंठस्थ हो गया था। उम्र के हर पड़ाव पर वह मेरे साथ रहा और मेरे लेखन के एक महत्त्वपूर्ण भाग को प्रभावित करता रहा। जैसे 'जादू का कालीन' मेरा नाटक, 'नहीं' व 'तीन किलो की छोरी', जैसी कहानियाँ व 'कठगुलाब' उपन्यास के कई अंश।

1. इसके लेखक प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार दास्तोवस्की हैं 2. मानसिक रोग 3. फुर्सत, अवकाश

माँ जी की मन्नत का असर रहा होगा कि मैं ही नहीं, मेरी चारों बहनें भी लड़की होने के नाते किसी हीन भावना का शिकार नहीं हुईं। नानी, माँ और परदादी की परंपरा बरकरार रखते हुए, लीक पर चलने से भी इनकार किए रहीं।

पहली लड़की, जिसके लिए मन्नत माँगी गई थी, वह मैं नहीं, मेरी बड़ी बहन, मंजुल भगत थी। घर का नाम था–रानी, बाहर का मंजुल; लेखिका अवतार हुआ, मंजुल भगत। क्योंकि लिखना शादी के बाद शुरू किया और अपना नाम बदलकर पति का ग्रहण करने में कोई हीन भावना आड़े नहीं आई, इसलिए पैदाइशी जैन नाम छोड़ भगत बनीं। दूसरे नंबर पर मैं थी, घर का नाम उमा, बाहर का मृदुला। मैंने भी शादी के बाद लिखना शुरू किया सो बतौर लेखिका नाम चला मृदुला गर्ग। मुझे याद है, जब हमने लिखना शुरू किया, उससे कुछ पहले नारीवाद का चलन हुआ था। शादी के बाद नाम न बदलने का रिवाज उसी ने चलाया था। मन्नू भंडारी का हवाला देकर, हमसे पूछा भी जाता था कि आप लोग इतनी पोंगापंथी, घरघुस्सू क्यों हो? नाम क्यों बदला? हमारे पास इसका कोई ढंग का जवाब नहीं होता था। अब भी नहीं है। पर नाम बदलने से, अपने व्यक्तित्व का कोई नुकसान होते, मैंने नहीं देखा। पूछने को तो पिताजी से लोग यह भी पूछते थे, पाँच बेटियों से आपका मन नहीं भरा जो हर बेटी के दो-दो नाम रख छोड़े हैं। मुझसे छोटी बहन का घर का नाम है गौरी और बाहर का चित्रा। वह नहीं लिखती। उसका कहना है, वह इसलिए नहीं लिखती क्योंकि घर में कोई पढ़ने वाला भी तो चाहिए। खैर, उसके बाद जब चौथी-पाँचवीं बेटियाँ पैदा हुईं तो, पिता जी ने इतनी बात ज़माने की सुनी कि उनका एक-एक नाम ही रखा। रेणु और अचला। पाँच बहनों के बाद एक भाई हुआ, राजीव। मज़े की बात यह है कि बीच की दो बहनें ही लेखन से बची रहीं। अचला और राजीव फिर उसमें जा फँसे। अचला मुझसे आठ साल छोटी है और वक्त के बदलाव की लाज रखते हुए, अंग्रेज़ी में लिखती है। पर राजीव फिर हिंदी के हवाले।

हम चार लिखते हैं और तमाम खानदान हमें पढ़ता है। मेरी ससुराल में मुझे कोई नहीं पढ़ता। इस तथ्य को हज़म करने में मुझे काफ़ी वक्त लगा। फिर उसके फ़ायदे भी नज़र आने लगे। कम-से-कम, घर के भीतर तो मुझे हिंदी आलोचना-बुद्धि से दो-चार नहीं होना पड़ता।

खैर, मैं अपनी नहीं, उन अ-देवियों की बात कहना चाहती हूँ, जो परदादी की मन्नत के नतीजतन धरती पर आईं और लेखक नहीं बनीं। जो बनीं, उन्हें साँस लेने की ज़रूरत कुछ ज़्यादा हो, समझ में आता है, जैसा मेरे पिता जी ने एक बार मंजुल से कहा था। कोई दम नहीं घुटता, साँस लेने की ज़रूरत ही ज़्यादा है। पर यहाँ तो, हम सेर तो गैर-लेखिका बहनें सवा सेर। चौथे नंबर वाली रेणु का आलम यह था कि गरमी की दुपहरी में स्कूल से वापसी पर, जब गाड़ी उसे और उससे छोटी बहन अचला को बस अड्डे से लेने जाती, तो रेणु उसमें बैठने से इनकार कर देती। उसका कहना था कि यूँ थोड़ा-सा रास्ता गाड़ी में बैठकर तय करना, सामंतशाही का प्रतीक था। जो शायद था। पर साथ ही पिता के अतिरिक्त लाड़ का भी। और रसोइये को खाना खिलाकर जल्दी फ़ारिग[1] करने की लाचारी का भी। माँ तो सब चीज़ों से उदासीन रहती थीं पर पिता काफ़ी कुढ़ते-भुनते, जब देखते कि अचला गाड़ी में बैठी चली आ रही है और रेणु, पीछे-पीछे, पसीने में तरबतर, खरामा-खरामा[2]। बचपन में एक बार चुनौती दिए जाने पर उसने जनरल थिमैया को पत्र लिखकर, उनका चित्र मँगवा लिया था, जो एक मोटरसाइकिल सवार जवान आकर, उसके हाथ में दे गया था। पड़ोस में उसका रुतबा काफ़ी बढ़ गया था। गाड़ी में बैठने के साथ, उसे इम्तिहान देने से भी परहेज़ था। स्कूल तो जैसे-तैसे पास कर लिया पर जब बी.ए. का इम्तिहान देने की बारी आई तो, वह अड़ गई। पहले मुझे समझाओ कि बी.ए. करना क्यों ज़रूरी है, तब मैं इम्तिहान दूँगी, अगर मुझे यकीन आ गया कि हाँ, कोई फ़ायदा है, वरना नहीं। हमने तरह-तरह के तर्क दिए, माँ ने कहा, पिता जी से पूछो।

1. कार्य से निवृत्त, निश्चिंत 2. धीरे-धीरे

पिता जी ने कहा, नौकरी कर पाओगी, शादी कर पाओगी, लोग इज़्ज़त से देखेंगे, वगैरह-वगैरह। कोई तर्क विश्वसनीय नहीं लगा, न रेणु को, न खुद उन्हें। आखिर उन्होंने उसी कुतर्क का सहारा लिया जो, युगों से, माँ-बाप के काम आता रहा है। कहा, बी.ए. करो, क्योंकि मैं कह रहा हूँ, करो। रेणु ने बी.ए. कर तो लिया पर सिर्फ़ पिता की खुशी के लिए, यानी पास होने लायक नंबर लाकर। सच बोलने में वह माँ से भी दो कदम आगे है। गनीमत यह है कि आधा समय उसके सच सुनकर लोग सोचते हैं, वह मज़ाक कर रही होगी इसलिए बिना मेहनत, वह लोगों को हँसाए रख लेती है। आज भी, उसे कोई इत्र भेंट करता है तो वह कहती है, "नहीं चाहिए। मैं तो नहाती हूँ।"

तीसरे नंबर पर चित्रा है। वह कालेज पढ़ने तो जाती थी पर खुद पढ़ने से ज़्यादा दिलचस्पी, औरों को पढ़ाने में रखती थी। इसलिए इम्तिहान में उसके अंक कम और उसके शागिर्दों के ज़्यादा आते थे। पर अपने यहाँ सब चलता था। उसकी शादी का वक्त आया तो उसने एक नज़र में लड़का पसंद करके ऐलान कर दिया कि शादी करेगी तो उसी से। मुश्किल यह थी कि हमारे माँ-बाप ही नहीं, खुद लड़का भी उसके निर्णय से वाकिफ़ नहीं था। पर उसका कहना था, वह जो सोच लेती है, करके रहती है। तो उसकी शादी उसी लड़के से हुई। कोई मुश्किल पेश नहीं आई। आती क्यों? उसने कहा, "मैंने पहली मुलाकात में ही उसे बतला दिया था कि मैं जो सोच लेती हूँ, होकर रहता है।" तो उसने बात आगे खींची ही नहीं। पहली मुलाकात में ही हथियार डाल दिए।

हममें सबसे छोटी बहन, अचला काफ़ी दिनों तक कुछ कम खिसकी मालूम पड़ती रही। पिता का कहा मानकर, पहले अर्थशास्त्र किया, फिर पत्रकारिता में दाखिला लिया, ढंग से पढ़ाई की, पास हुई। फिर पिता की पसंद से शादी भी कर ली। पर उसके आगे लीक पर नहीं चल पाई। घरबार में मन ज़्यादा रुचा नहीं और मंजुल और मेरी तरह उम्र के तीस बरस पार करते ही, लिखने का रोग लगा लिया।

एक बात हममें एक-सी रही। घरबार को परंपरागत तरीके से हमने भले न चलाया हो, उसे तोड़ा भी नहीं, शादी एक बार की और उसे कायम रखा। चाहे तलाक के कगार पर खड़ी चली हो पर कगार तोड़, डूबी नहीं। शायद इसलिए कि जैसा मैंने अपने पहले उपन्यास में लिख डाला था, हम सभी विश्वास करती रही होंगी कि मर्द बदलने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। घर के भीतर रहते हुए भी, अपनी मर्ज़ी से जी लो, तो काफ़ी है।

शादी के बाद मैं बिहार के ऐसे छोटे कस्बे (डालमिया नगर) में रही, जहाँ मर्द-औरतें, चाहे पति-पत्नी क्यों न हों, पिक्चर देखने भी जाते तो अलग-अलग दड़बों में बैठते। मैं दिल्ली से कालेज की नौकरी छोड़कर वहाँ पहुँची थी और नाटकों में अभिनय करने की शौकीन रही थी। मैंने उनके चलन से हार नहीं मानी। सालभर के भीतर, उन्हीं शादीशुदा औरतों को पराए मर्दों के साथ नाटक करने के लिए मना लिया। अगले चार साल तक हमने कई नाटक किए। अकाल राहत कोष के लिए, उन्हीं के माध्यम से पैसा भी इकट्ठा किया।

वहाँ से निकली तो कर्नाटक के और भी छोटे कस्बे, बागलकोट में पहुँच गई। तब तक मेरे दो बच्चे हो चुके थे, जो स्कूल जाने लायक उम्र पर पहुँच रहे थे। पर वहाँ कोई ढंग का स्कूल नहीं था।

लोगों की राय पर, मैंने पास के कैथोलिक बिशप से दरख्वास्त की कि उनका मिशन, वहाँ के सीमेंट कारखाने की आर्थिक मदद से, हमारे कस्बे में एक प्राइमरी स्कूल खोल दे। पहले उन्होंने कहा, चूँकि उस प्रदेश में क्रिश्चियन जनसंख्या कम थी, इसलिए वे वहाँ स्कूल खोलने में असमर्थ थे। मैंने गैर-क्रिश्चियन बच्चों को भी शिक्षा पाने के लायक सिद्ध करते हुए, अपना इसरार[1] जारी रखा। तब उन्होंने कहा, "हम कोशिश कर सकते हैं, बशर्ते आप हमें यकीन दिलाएँ कि वह स्कूल, अगले सौ बरसों तक चलता रहेगा।" मुझे गुस्सा आ गया। मैंने कहा, "स्कूल की छोड़िए, किसी के भी बारे में यकीन नहीं दिलाया जा सकता कि वह अगले सौ बरस तक चलेगा।" वे भी गुस्सा खा गए, बोले, "खुदा का लाख शुक्र है, बच्चों के न पढ़

1. आग्रह

पाने की समस्या आपकी है, मेरी नहीं।" बात कड़ुवी थी पर सौ फीसदी सच। सच के आगे सिर झुकाने की हमारी बचपन की आदत थी। सो मैंने तय किया कि मैं खुद, अंग्रेज़ी-हिंदी-कन्नड़, तीन भाषाएँ पढ़ाने वाला, प्राइमरी स्कूल वहाँ खोलूँगी और कर्नाटक सरकार से उसे मान्यता भी दिलवाऊँगी। वहाँ के अनेक मेहनती और खिसके लोगों की मदद से यह व्रत पूरा हुआ। मेरे बच्चे तथा अन्य अफ़सरों के बच्चे उसी स्कूल में पढ़े। बाद में अलग-अलग शहरों के अलग-अलग ख्यात स्कूलों में दाखिला भी पा गए।

ऐसे अनेक मौके आए, जब मैंने अपने ज़िद्दीपन के नमूने पेश किए। पर सबसे ज़्यादा, उसने मंच पाया मेरे लेखन में, जो शुरू से अब तक लीक से खिसका, अपनी राह खुद तलाशता रहा है। पर सब कुछ कर लेने पर भी, मैं अपनी छोटी बहन रेणु के मुकाबिल नहीं पहुँच सकती। उन्नीस सौ पचास के अंतिम दौर में, एक रात दिल्ली में एक साथ नौ इंच बारिश हो गई। दिल्ली की खासियत यह रही है कि थोड़ा पानी बरसते ही, वहाँ के नाले-परनालों में बाढ़ आ जाती है, पुलों के नीचे पानी भर जाता है और तमाम यातायात ठप्प हो जाता है। इस कयामती बारिश के बाद तो सरकारी दफ़्तरों के पहले तल्लों से, फ़ाइलें पानी में तैर आई थीं। अगली सुबह, किसी तरह का कोई वाहन सड़क पर नहीं निकला था। ज़ाहिर है कि रेणु के स्कूल की बस भी उसे लेने नहीं आई। रेणु ने कहा, कोई बात नहीं, मैं पैदल चली जाऊँगी। सबने समझाया, स्कूल बंद होगा, मत जाओ। उसने कहा, आपको कैसे पता? इस सवाल का माकूल[1] जवाब किसी के पास नहीं था। हमारे यहाँ फ़ोन ज़रूर लगा हुआ था। स्कूल में भी रहा होगा। पर बारिश के चलते, वह ठप्प पड़ा हुआ था। तो रेणु अकेली, पैदल, स्कूल चल दी। गनीमत यह थी कि बारिश, एकमुश्त बरस लेने के बाद, थम गई थी। सड़कों पर पानी था पर और बरस नहीं रहा था। तो रेणु दो मील पैदल चलकर स्कूल पहुँची। जैसा हमने कहा था, वह बंद था। चौकीदार रेणु को देख दंग रह गया। पर रेणु को कोई मलाल नहीं था। वह वापस दो मील चलकर घर पहुँच गई। सबने कहा, हमने पहले ही कहा था।

1. मुनासिब, अच्छा

उसने कहा, "स्कूल बंद था तो मैं वापस आ गई, इसमें आपका कहना कहाँ से आ गया?"

सोचती हूँ, कैसे रोमांच का अनुभव हुआ होगा उसे, उस दिन। जगह-जगह पानी से लब-लब करते, सुनसान शहर में, निचाट अकेले, अपनी धुन में, मंज़िल की तरफ़ चलते चले जाना। सच, अकेलेपन का मज़ा ही कुछ और है।

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखिका ने अपनी नानी को कभी देखा भी नहीं फिर भी उनके व्यक्तित्व से वे क्यों प्रभावित थीं?
2. लेखिका की नानी की आज़ादी के आंदोलन में किस प्रकार की भागीदारी रही?
3. लेखिका की माँ परंपरा का निर्वाह न करते हुए भी सबके दिलों पर राज करती थी। इस कथन के आलोक में–
   (क) लेखिका की माँ के व्यक्तित्व की विशेषताएँ लिखिए।
   (ख) लेखिका की दादी के घर के माहौल का शब्द-चित्र अंकित कीजिए।
4. आप अपनी कल्पना से लिखिए कि परदादी ने पतोहू के लिए पहले बच्चे के रूप में लड़की पैदा होने की मन्नत क्यों माँगी?
5. डराने-धमकाने, उपदेश देने या दबाव डालने की जगह सहजता से किसी को भी सही राह पर लाया जा सकता है–पाठ के आधार पर तर्क सहित उत्तर दीजिए।
6. 'शिक्षा बच्चों का जन्मसिद्ध अधिकार है'– इस दिशा में लेखिका के प्रयासों का उल्लेख कीजिए।
7. पाठ के आधार पर लिखिए कि जीवन में कैसे इंसानों को अधिक श्रद्धा भाव से देखा जाता है?
8. 'सच, अकेलेपन का मज़ा ही कुछ और है'–इस कथन के आधार पर लेखिका की बहन एवं लेखिका के व्यक्तित्व के बारे में अपने विचार व्यक्त कीजिए।